

शिक्षा एवं शिक्षक दोनों यथास्थिति के पोषक

□ नरेन्द्र पुण्डरिक

आजादी के बाद देश में जिस तरह से शिक्षा प्रणाली लागू की गई, उससे समाज में शिक्षित होने का स्तर गिरता चला गया। हमारे यहां शिक्षा का मतलब या तो अक्षर ज्ञान से है या जीवकोपार्जन की सुविधा प्राप्त करने से है। इसके अलावा शिक्षा का और कोई भी उद्देश्य होता है, इसे जानने की या बच्चों के समक्ष प्रस्तुत करने की आवश्यकता नहीं समझी गई।

बच्चों को पढ़ाई जाने वाली सामग्रियों को ध्यान से देखें तो पता चलता है कि बच्चों को जीवन एवं समाज की सच्चाईयों से दूर ही रखा गया है। जो भी किताबों में जीवन व समाज के थोड़े बहुत सच सामने आए हैं वे मात्र पढ़ने के लिए रहे हैं। जीवन के साथ उनको लागू करने की कोशिश के साथ उनका कभी कोई

संबंध नहीं रहा है। बच्चों को शिक्षा की शुरूआत में ही किताबों द्वारा पढ़ाया जाता रहा है, 'कोई छोटा बड़ा, ऊंच नीच नहीं है, हमें भेद-भाव नहीं करना चाहिए।' यह सब बच्चों को पहली दूसरी कक्षा से ही पढ़ाया जाता है। लेकिन अनेक स्कूलों में यह पढ़ने के तत्काल बाद ही दलित बच्चे सवर्ण बच्चों से कुछ हटकर दूर बैठते हैं।

वे यह पढ़ाने वाले अध्यापकों द्वारा ही जातिगत आधार पर लाक्षित होते हैं। यानी जो किताबों से अभी अभी पढ़ाया गया था वह मात्र पढ़ने के लिए था, जीवन में लागू करने के लिए नहीं था।

इस प्रकार शिक्षा को शुरू से ही जीवन की सचाई से काट कर ही रखा गया। यह परम्परा हजारों साल पुरानी थी जो शिक्षा को

कर्म एवं जीवन से सीधे जोड़ने के बजाय उसके समानान्तर एक दूसरी अलिखित अघोषित रेखा में जीवन को चलाती रही। पढ़ने के सच से जीवन का संबंध इसी अघोषित रेखा पर चलने चलाने का रहा है। समाज की रीढ़ औरत और दलित वर्ग दोनों को पढ़ने से दूर रखने की कोशिश की गई, ताकि दुनिया के अपेक्षाकृत बदलावको रोका जा सके, यथास्थिति बनाई रखी जा सके। पढ़ने का एकमात्र उद्देश्य जीवन के सच को जानना नहीं, जीवन के लिए सुविधायें जुटाना था। औरतो और दलितों का ठेका तो उन सवर्ण पुरुषों के पास था जो यथास्थिति के पक्षधर थे, और उनके द्वारा ही घोषित था कि औरतों को उतना ही पढ़ना चाहिये कि वह रामायण पढ़ सकें। लेकिन दलित वर्ग को इतनी भी छूट नहीं थी।

आज भी गांव के कई घरों में जहां जीवन-यापन की, जीवन की सुविधाओं की पर्याप्तता है उन घरों में लड़कियों को एवं बच्चों को ज्यादा नहीं पढ़ाते। इसके लिए उनका यहा पारम्परिक तर्क होता है, 'कौन इन्हें नौकरी करना है, घर का धंधा ही देखना है।' यानी जो कुछ भी अब तक बच्चों को पढ़ाया जाता रहा है उसका इनके जीवन के सोच के लिए कोई अर्थ नहीं था। यानी जीवन हजारों साल से चले आ रहे खाचों एवं सांचों में

चलना है - ढलना है। शिक्षा का ढांचा परम्परागत सोच को तोड़ने का काम नहीं करता, वरन अच्छा खासा पढ़ लिख लेने के बाद भी किसी को परम्परागत सोच धारण करने में दिक्कत नहीं होती। पढ़ने -लिखने का स्वांग हमारे यहां सभ्य दिखने का स्वांग है जो हजारों साल से खेला जा रहा है। इस पठन-पाठन से न रूढ़िवादिता प्रभावित होती है न जीवन के प्रति सोच प्रभावित होता है। इससे नये के नाम पर जो जुड़ता है वह अलग से गिनती योग्य नहीं होता।

स्कूलों कालेजों के हॉस्टलों में छात्रों का खाना बनाने के लिए जो महाराज रखे जाते हैं वे 90 प्रतिशत ब्राह्मण ही रखे जाते हैं। इसके पीछे खान-पान की पवित्रता नहीं अपितु जातिगत पवित्रता को ही ध्यान में रखा जाता है। सरकारी एवं गैर सरकारी शिक्षा

संस्थाओं में अधिकांश कार्य-व्यवहार पुस्तकों में उद्धरित ज्ञान के विपरीत समाज की परम्परागतता का ही पिष्टपेषण किया जाता रहा है। आज के 35-40 वर्ष पहले से लेकर अब तक मुझे याद नहीं आ रहा है कि बच्चों को पढ़ाई जाने वाली किताबों की कहानियों के राजा-रानी, पंडित-पंडितानी, सेठ-सेठानी या उनकी फटिक करने वाले कभी-कभार नाई अहीर को छोड़कर चमार भंगी, कही जाने वाली दलित जाति के लोगों को नायक बनाकर लिखी कहानियां इन किताबों में बच्चों को पढ़ने के लिए दी गई हैं। इनके जीवन-पक्षों को बच्चों के सामने इन किताबों में उजागर नहीं किया गया। बच्चों की इन किताबों में आमूलचूल परिवर्तन नहीं किया जायेगा और इस परिवर्तन पर लगातार सतर्क निगाह रखते हुए समय के साथ साथ इसमें फेरबदल नहीं किये जायेंगे, तब तक हजारों साल से चले आ रहे समाज की जड़ संस्कार ग्रस्तता को कमजोर नहीं किया जा सकता।

जब हम पढ़ते थे तब से लेकर देखते चले आ रहे हैं कि माध्यमिक स्कूल हो या डिग्री कालेज की कक्षायें, सभी में 90 प्रतिशत सवर्ण छात्र ही कक्षा की आगे की सीटों में बैठते रहे हैं। यदि दलित वर्ग के छात्र आगे बैठना भी चाहें

तो पहले संवर्ण छात्र ही उन्हें पीछे बैठने को मजबूर करते हैं। अनेक जगह तो कक्षाओं में अध्यापक ही दलित छात्रों को आगे की सीटों से हटाकर पीछे बैठने को कहते हैं। यह भेद बच्चों द्वारा कुछ कम अध्यापकों द्वारा ज्यादा किया जाता है। स्कूलों में अब तक कहीं कहीं अध्यापकों द्वारा दलित छात्रों को जाति सूचक शब्दों का प्रयोग करते देखा जा सकता है। आजादी के 50 साल बाद भी ऐसी स्थिति किसी न किसी तरह बरकरार है। इसका दोषी अध्यापक वर्ग ही ज्यादा है। इनकी ओछी हरकतों से शिक्षा की स्थिति अधिक बिगड़ी है और बिगड़ती चली जा रही है। ♦

आज के 35-40 वर्ष पहले से लेकर अब तक मुझे याद नहीं आ रहा है कि बच्चों को पढ़ाई जाने वाली किताबों की कहानियों के राजा-रानी, पंडित-पंडितानी, सेठ-सेठानी या उनकी फटिक करने वाले कभी-कभार नाई अहीर को छोड़कर चमार भंगी, कही जाने वाली दलित जाति के लोगों को नायक बनाकर लिखी कहानियां इन किताबों में बच्चों को पढ़ने के लिए दी गई हैं। इनके जीवन-पक्षों को बच्चों के सामने इन किताबों में उजागर नहीं किया गया। बच्चों की इन किताबों में आमूलचूल परिवर्तन नहीं किया जायेगा और इस परिवर्तन पर लगातार सतर्क निगाह रखते हुए समय के साथ साथ इसमें फेरबदल नहीं किये जायेंगे, तब तक हजारों साल से चले आ रहे समाज की जड़ संस्कार ग्रस्तता को कमजोर नहीं किया जा सकता।